Knowledgeable Research (An International Peer-Reviewed Multidisciplinary Journal) **ISSN 2583-6633**
Available Online: http://knowledgeableresearch.com Vol.04, No.08, August,2025

औपनिवेशिक अर्थतंत्र की छाया में भारतीय कृषि और पारिस्थितिकी: समकालीन संदर्भ और चुनौतियाँ

* Dr. Prakash Kumar Patel
Department of Political science
Dyal Singh College (University of Delhi)

****

Abstract: यह लेख ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के तहत भारतीय कृषि और पारिस्थितिकी में आए संरचनात्मक रूपान्तरणों का समग्र विश्लेषण प्रस्तुत करता है। उपनिवेशी अर्थतंत्र के लाभ-अधिकतमकारी उद्देश्यों ने भूमि-संबंधों, उत्पादन संरचना, और प्राकृतिक संसाधन शासन को मूल से बदल दिया। भूमि पर सामुदायिक अधिकार और आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था को जमींदारी, रैयतवाड़ी और **mahalwari** व्यवस्थाओं के माध्यम से निजी स्वामित्व एवं नकद लगान पर आधारित ढांचे में रूपांतरित किया गया, जिसके परिणामस्वरूप कृषि का वाणिज्यिकरण, फसल-विशिष्टीकरण, जोतों का विखंडन, ग्रामीण ऋणग्रस्तता, किसानों की बेदखली तथा खेतिहर मज़दूर-वर्ग में वृद्धि जैसी प्रवृत्तियाँ तेज हुई। साथ ही औद्योगीकरण और वैश्विक बाज़ार की कच्चे माल की मांग ने कपास, जूट, गेहूँ, चीनी आदि निर्यातमुखी फसलों का विस्तार किया, पर तकनीकी आधुनिकीकरण सीमित रहा और प्रच्छन्न बेरोज़गारी बढ़ी। पारिस्थितिकी पक्ष में, प्राकृतिक संसाधनों का वाणिज्यिकरण, रेलवे विस्तार, वन कानूनों द्वारा आरक्षित/संरक्षित वन का वर्गीकरण और वैज्ञानिक वानिकी (एकल-प्रजाति रोपण) ने जैव-विविधता, स्थानीय जीविका एवं पारिस्थितिक संतुलन को गम्भीर रूप से प्रभावित किया; ईंधन-चारा व लघु वनोत्पाद पर सामुदायिक पहुँच सिमटी, झूम कृषि और पारंपरिक उपयोगों पर पाबंदियाँ लगीं, और राज्य-समुदाय संघर्ष तीव्र हुआ। लेख तर्क देता है कि जहाँ उपनिवेशवाद ने आत्मनिर्भर गाँवों के पार्थक्य को तोड़कर राष्ट्रीय बाज़ार का एकीकरण और बुनियादी ढाँचों (जैसे रेल) का विस्तार किया, वहीं इसकी कीमत कृषि-पारिस्थितिकी के सामाजिक-न्याय और पर्यावरणीय स्थिरता की क्षति के रूप में चुकानी पड़ी। परिणामतः औपनिवेशिक नीतियाँ भारत को एक शास्त्रीय उपनिवेशीय अर्थव्यवस्था की दिशा में ले गईं, जिसमें राजस्व-संग्रह और निर्यातगत लाभ केंद्रीय थे, पर कृषि उन्नयन, ग्रामीण कल्याण और पारिस्थितिकी संरक्षण उपेक्षित रहे।

Keywords: औपनिवेशिक अर्थतंत्र,कृषि का वाणिज्यिकरण,जमींदारी–रैयतवाड़ी–महालवारी,वैज्ञानिक वानिकी,पारिस्थितिकीय साम्राज्यवाद

****

भारत पर ब्रिटेन की विजय अन्य विदेशी विजयों से सर्वथा भिन्न थी। ब्रिटिश उपनिवेशवाद द्वारा भारत की उत्पादन प्रणाली, संपति संबंधो, शिक्षा, संस्कृति तथा प्रशासन में किए गये परिवर्तनों का दूरगामी प्रभाव पड़ा। इन परिवर्तनों ने जहां प्राक–ब्रिटिश सामाजिक, आर्थिक संस्थाओं का विनाश किया, वहीं दूसरी ओर एक नये सामाजिक–आर्थिक ढांचे, नये सामाजिक वर्गों, नई प्रशासन पद्धति तथा एक नई राजनीतिक व्यवस्था को जन्म दिया।

यह तथ्य सर्वविदित है कि भारत पर ब्रिटिश शासन का प्रमुख उद्देश्य अधिकतम लाभ अर्जित करना था। औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का सार तत्व उन तौर–तरीकों में निहित था, जिनका सहारा लेकर ब्रिटेन भारत के आर्थिक अधिशेष को हड़प लेता था। प्रथम तो करारोपन, लूट तथा उपहार, अंग्रेज़ो को व्यापक स्तर पर रोज़गार मुहैया कराने और एशिया और अफ्रीका में फैले ब्रिटिश साम्राज्य को जीतने और फिर शासन करने के लिये भारतीय सेना के उपयोग के माध्यम से वह प्रत्यक्ष रूप से अधिशेष को आत्मसात कर लेता था। दूसरे, मुक्त व्यापार तथा असमान विनिमय की छदम, परोक्ष और जटिल पद्धति थी जिसने भारत को ब्रिटेन का पिछलग्गू बना दिया था, वह कच्चे माल और खाद्य सामाग्री का निर्यात करता था और बने बनाए सामान का आयात करता था ; तीसरा, शोषण का नया दौर आया जिसमे आधुनिक बागानों, यातायात के साधनों, खानों, उद्योंगों, बैंक, व्यापार आदि में पूंजी निवेश को माध्यम

बनाया गया।[1] हम भारतीय कृषि तथा पारिस्थितिकी पर ब्रिटिश उपनिवेशवाद के प्रभावों को इन्ही संदर्भों में रखकर इसे संपूर्णता में समझने का प्रयास करेंगें। इस लेख के प्रथम भाग मे हम भारतीय कृषि पर ब्रिटिश शासन के प्रभावों को तथा द्वितीय भाग में भारतीय पारिस्थितिकी पर ब्रिटिश शासन के प्रभावों का विवेचन करेंगे।

ब्रिटिश शासन का भारतीय कृषि पर प्रभाव

खेती की व्यवस्था ढह चुकी है और समाज का नए सिरे से संगठन करना अनिवार्य है। - **जवाहरलाल नेहरू ,1933**

ब्रिटिश साम्राज्यवाद का भारत पर पड़े प्रभावों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भारतीय कृषि पर प्रभाव है जो कि कई उत्तरोतर प्रभावों के मूल में थी। रजनी पाम दत्त के शब्दों में "*साम्राज्यवाद जिस सामाजिक व्यवस्था को कायम किये हुए है और जिस व्यवस्था ने लोगो का जीना हराम कर दिया है, उसकी बुनियाद खेती मे है। यही एक परिवर्तन करने के लिए बड़ी-बड़ी ताकतें इकट्ठा हो रही है। वे इस सामाजिक–व्यवस्था को खत्म करके एक नयी व्यवस्था की नींव डालनी चाहती है।*"[2] भारतीय कृषि पर ब्रिटिश शासन के प्रभावों को हम निम्न बिन्दुओं के आधार पर समझ सकते हैं।

प्राक–ब्रिटिश काल में भारतीय कृषि व्यवस्था

आदिम हल और बैल से खेती और साधारण औज़ार की मदद से दस्तकारी की भित्ति पर टिका आत्मनिर्भर गाँव, यही अंग्रेजों के आने से पहले की भारतीय अर्थव्यवस्था का मूल सत्य है। ये स्वपर्याप्त गाँव सदियों से भारतीय जीवन की मूल आर्थिक इकाई थे। इनमें न्यूनाधिक परिशोधन हुए थे, लेकिन राजनीतिक हलचल, धार्मिक उथल-पुथल और विनाशकरी युद्धों के बावजूद अंग्रेजों के आगमन के पहले तक गांवों की चिरंतन प्रकृति अक्षुण्ण रही।[3] गांवों में अक्सर किसान रहते थे, और सारा गाँव, गाँव की जमीन का मालिक होता था। ग्राम पंचायत गाँव की पूरी आबादी का प्रतिनिधित्व करती थी और जोत खंडों के रूप में जमीन को किसान परिवारों के बीच बाँट देती थी। जमीन की पैदावार के अंशमात्र पर ही राजा या उसके प्रतिनिधित्व का अधिकार था, और यह अंश सारे गाँव की ओर से गाँव की पंचायत देती थी। राज्य का हक अंश भाग तक ही सीमित था, और यह भाग उसे पदार्थ(फसल) के रूप में ही मिलता था।[4]

गांवों मे किसानों के अतिरिक्त बढ़ई, लोहार, कुम्हार, जुलाहा, मोची, धोबी, तेली, हजाम जैसे मज़दूर किस्म के लोग भी रहते थे। लेकिन ये भी गाँव की ही जरूरतों को पूरा करने के लिए खटते थे। गांवों में जिन वस्तुओं का उत्पादन होता था उनका विनिमय गाँव की जनता तक ही सीमित था। गाँव के लगभग सम्पूर्ण उत्पादन का उपभोग गाँव की ही जनता करती थी। इस तरह भारतीय गांवों का बाहर की दुनिया से तो कोई विनिमय संबंध नहीं था, गांवों के अंदर भी बाजार जैसी चीज नहीं थी।[5] मार्क्स ने भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था का वर्णन करते हुए पूंजी में लिखा ;

"हिंदुस्तान के ये छोटे-छोटे और प्राचीन समाज धरती पर समूहिक अधिकार रखते हैं। इनके यहाँ खेती के साथ दस्तकारी का काम भी जुड़ा हुआ है। अपना-अपना काम बंटा हुआ है। जब कभी कोई नया समाज बनता है, तो उसे इन्ही नियमों का बंधन मानना पड़ता है। इस तरह के कुछ समाज अब तक बचे हुए हैं। इनके पास सौ से लगाकर कोई हजार एकड़ तक जमीन रहती है और हरेक समाज अपनी जरूरतों की सभी चीजे अपने आप पैदा कर लेता है, वह अपने आप में पूर्ण है। पैदावार का अधिकतर भाग समाज के ही काम आता है और वह बाजार का माल नहीं बनता। इसीलिए माल को बेचने और खरीदने से समाज में जो श्रम-विभाजन होता है, उसका असर हिंदुस्तान के उत्पादन पर नहीं पड़ता है। खाने-खरचने से जो कुछ बच जाता है, वही बिकाऊ माल हो सकता है और असल में उस बचे हुए का एक हिस्सा ही बेचने के काम आता है जो राज को सौंप दिया जाता है। बाबा आदम के जमाने से यही रीति चली आ रही है कि पैदावार का एक हिस्सा बतौर लगान के, राज को दे दिया जाय।

[1] विपिन चन्द्र, 2008, भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उदभव और विकास, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली,पृ० 7

[2] रजनी पाम दत्त, 2000, आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ० 198

[3] ए० आर० देसाई. 2012, *'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि'*, दिल्ली, मैकमिलन पब्लिकेसन, पृ० 6

[4] वही पृ० 7

[5] वही पृ० 8

हिंदुस्तान के अलग-अलग हिस्से में इस तरह के प्राचीन समाज का ढाँचा अलग-अलग है। उसका सबसे सीधा रूप यह है कि सब लोग मिल कर खेती करते हैं और आपस में पैदावार बाँट लेते हैं। इसके अलावा हर कुनबे में कटाई-बुनाई का काम सहायक धंधों के रूप में ही होता है। गाँव के लोग इस तरह एक ही काम में जुटे रहते हैं।" **(मार्क्स, पूंजी, खंड 1, अध्याय 14, अंश 4)**[6]

अंग्रेजों के आने से पूर्व हिंदुस्तान में पुरानी भूमि-व्यवस्था के अनुसार जमीन किसानों की होती थी और सरकार को पैदावार का एक हिस्सा दिया जाता था ; "गाँव में जिस जाति या भाईचारे के लोग रहते थे, जमीन उसी की होती थी। यह कभी नहीं समझा जाता था कि जमीन का मालिक राजा है।"[7]

राजा और उसकी प्रजा के बीच कई प्रकार के मध्यस्थ थे, जैसे जमींदार या तहसीलदार या अभिजात वर्गीय ऐसे लोग जिन्हे राजा के अनुग्रहवश क्षेत्र विशेष से कर वसूलने और उसे पूरा-का-पूरा अंशतः स्वयं रख लेने का अधिकार दे रखा था ; कुछ धार्मिक, दातव्य और शिक्षण संस्थाओं को भी राजा से ऐसे ही अधिकार प्राप्त थे। लेकिन वास्तविक भूस्वामी न तो राजा स्वयं था और न ये मध्यस्थ ही।[8] भारतीय गांवों के कृषि उत्पादन की संरचना सदियों से ज्यों का त्यों रहा। गाँव के लोगों की जरूरतों को पूरा करना ही ग्रामीण कृषि का चरम उद्देश्य था। गाँव और बाहर की दुनिया के बीच विनिमय संबंध लगभग शून्य थे।[9]

रजनी पाम दत्त ने अपने चर्चित किताब **'आज का भारत'**(**इंडिया टूडेय**) में पूर्व ब्रिटिश भारत तथा ब्रिटिश भारत के बीच के अंतर का स्पष्ट वर्णन करते हुए लिखा है "*हिंदुस्तान की इसी प्राचीन आर्थिक व्यवस्था पर विदेशी पूंजीवाद ने धावा बोला था, ब्रिटिश राज्य के रूप में पूंजीवाद ने इस व्यवस्था की नींव हिला दी। अंग्रेजों की जीत के पहले और लोगों ने भी हिंदुस्तान को जीता था, लेकिन उनकी विजय से इस जीत में बड़ा अंतर था। उन्होने आर्थिक व्यवस्था को हाथ नहीं लगाया था, बल्कि वे खुद उसी में घुल-मिल गए थे। अंग्रेजों की जीत ने इस व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। अंग्रेज़ हमेशा विदेशी रहे और घुलने के बजाय वे ऊपर से दवाब डालकर हिंदुस्तान से बाहर भेजने लगे। साथ ही हिंदुस्तान में पूंजीवाद की जीत का वह मतलब नहीं था, जो यूरोप में पूंजीवाद का जीत का था। यूरोप में ध्वंस के साथ-साथ निर्माण भी हुआ, लेकिन यहाँ पर केवल ध्वंसलीला ही हुई। इसलिए ब्रिटिश राज में हिंदुस्तानी जनता की मुसीबत खास तौर से दर्दनाक है। पुरानी दुनिया बिछुड़ गई और नई का कहीं पता न लगा।*"[10]

ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय कृषि का रूपान्तरण

भारत पर पहली बार अब एक पूंजीवादी राष्ट्र का शासन था और इसका भारत की आर्थिक संरचना पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। भारतीय समाज के पुरातन आर्थिक आधार का उन्मूलन कर उसकी जगह पूंजीवादी व्यवस्था की स्थापना किए बिना ब्रिटेन अपनी खुद की पूंजीवादी आर्थिक आवश्यकताओं के लिए औपनिवेशिक भारत का समुचित उपयोग नहीं कर सकता था। भारत पर अंग्रेजों के राजनीतिक प्रभुत्व के विस्तार की दिशा में उठाया गया हर कदम पुरानी अर्थव्यवस्था के विघटन और नए आर्थिक रूपों के उन्नयन की दिशा में ही अलग कदम था।[11]

भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का प्रारम्भ

अंग्रेजों की भारत विजय के बाद पुरानी व्यवस्था में आमूल परिवर्तन का सिलसिला शुरू हुआ। नई लगान व्यवस्था ने गाँव की जमीन पर लोगों की जमाने से चली आ रही मिल्कियत खत्म कर उसकी जगह भूस्वामित्व के तीन रूपों को जन्म दिया – जमींदारी व्यवस्था, रैयतवारी व्यवस्था तथा माहलवारी व्यवस्था।

जमींदारी व्यवस्था

सबसे पहले 1793 ई॰ में कार्नवालिश ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा में जमीन के स्थायी बंदोबस्त के जरिये भारत मे जमींदारी का सृजन किया। अंग्रेज़ शासकों के राजनीतिक पूर्वाधिकारियों ने इन प्रान्तों में जिन तहसीलदारों को कमीशन के आधार पर भूमि कर की वसूली का अधिकार दिया था, उन्ही में से

[6] रजनी पाम दत्त.2000,'*आज का भारत*', में उद्धरित, नई दिल्ली, ग्रंथ शिल्पी, पृ॰ 99
[7] आर॰ के॰ मुखर्जी॰, रजनी पाम दत्त.2000,'*आज का भारत*' में उद्धरित, नई दिल्ली, ग्रंथ शिल्पी, पृ॰ 217
[8] ए॰ आर॰ देसा. 2012,' *भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि* ', दिल्ली, मैकमिलन पब्लिकेसन, पृ॰ 7
[9] वही, पृ॰ 9
[10] रजनी पाम दत्त.2000,'*आज का भारत* ', नई दिल्ली, ग्रंथ शिल्पी, पृ॰ 100
[11] वही, पृ॰ 27

जमींदारों के इस नए वर्ग की सृष्टि हुई। पहले के जितने ऐसे तहसीलदार थे, वे सब स्थायी बंदोबस्त में जमींदार हो गये। बंदोबस्त की शर्तों के अनुसार अब उन्हे ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार को निश्चित रकम देनी होती थी।[12]

अंग्रेजों ने भारत में जमींदारी प्रथा को तीन कारणों से लागू किया। प्रथम, ईस्ट इंडिया कंपनी जमीन के बंदोबस्त की अंग्रेजी न्यायिक एवं आर्थिक धारनाए ही अपना सकती थी। द्वितीय, प्रशासकीय दृष्टि से ब्रिटिश शासन के शुरू के दिनों में, लाखों छोटे किसानों की अपेक्षा कुछेक हजार जमींदारों से लगान की वसूली आसान और आर्थिक दृष्टि से लाभजनक थी। तृतीय, नवजात अँग्रेजी राज को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए, राजनीतिक एवं सामरिक दृष्टि से, देश में सामाजिक समर्थन की आवश्यकता थी। ऐशी आशा स्वाभाविक थी कि जमींदारों का यह नया वर्ग जो ब्रिटिश शासन के चलते ही जन्मा-बना अवश्य ही इस शासन की मदद करेगा।[13] रजनी पाम दत्त ने अपनी पुस्तक 'इंडिया टूडे' मे इस घटना का जिक्र करते हुए लिखा ;

“ हिंदुस्तान की जनता आजादी की लड़ाई में आगे बढ़ती है ; लेकिन दूसरी तरफ हर सूबें के जमींदार अपने फ़ैडरेशन और संघ बना कर अँग्रेजी राज की जय बोलते है। मिसाल को 1925 में बंगाल जमींदार के सभापति ने वाइसराय की सेवा में निवेदन किया था ; हुजूर वाइसराय यकीन रखे की जमींदार लोग तन-मन-धन से हमेशा उनकी मदद करने के लिए तैयार है। ”[14]

एक अन्य प्रकार से भी एक दूसरे किस्म के जमींदार वर्ग का जन्म हुआ। छोटे सरदारों के शुल्क और नजराने को लगान माना जाने लगा और उनके राजनीतिक, सेना संबंधी और प्रशासनिक अधिकारों को समाप्त कर दिया गया। जमींदार वर्ग के सृजन के तीसरे तरीके का भी इस्तेमाल किया गया। जिन लोगों ने ब्रिटिश सरकार को बहुमूल्य सैनिक या अन्यानय सेवाएँ प्रदान की, उन्हे जमीन का अनुदान देकर जमींदार बनाया गया।[15]

रैयतवारी व्यवस्था

देश के कुछ भागों में ब्रिटिश शासन ने भूस्वामित्व की सृष्टि की और कुछ भागों में किसानों की निजी मिल्कियत की। इस दूसरी व्यवस्था को रैयतवारी कहते है। रैयतवारी प्रथा में किसान को उस जमीन का स्वामी माना गया जिसे वह जोतता था।[16]

सर टामस मुनरो ने जमींदारी प्रथा को भारतीय परम्परा के प्रतिकूल मानकर 1820 में मद्रास प्रांत में जब वह गवर्नर था तो रैयतवारी प्रथा को परंपरासंगत मानकर वहाँ लागू किया। बाद में यह प्रथा बंबई, सिंध, बरार, मद्रास, आसाम और कुछ और इलाकों में भी लागू हुई। इस व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषतायें थी :-

१. नई व्यवस्था में किसान को सरकार से सीधे भूमि प्राप्त करने के रूप में मान्यता दी गई। जिससे काश्तकारी के अधिकार को धारक अधिकार का नाम दिया गया।

२. जमीन का मालिक उसका उपभोक्ता भी था। अतः किसान को भूमि का प्रयोग करने, किराये पर देने, गिरवी रखने या किसी अन्य को हस्तांतरित करने का पूरा अधिकार था।

३. जब तक वह सरकार को भू-राजस्व नियमित रूप से अदा करता रहता है तब तक उसका भूमि पर अधिकार बना रहेगा।

४. यदि किसान चाहे तो वह भूमि को वार्षिक अथवा निश्चित अवधि के लिए पट्टे पर दे सकता था । पट्टेदार का भूमि पर कोई क़ानूनन अधिकार नही होगा।

५. भू-राजस्व किराये के नाम दिया गया तथा प्रत्येक किसान को यह किराया अदा करने के लिए व्यक्तिगत स्तर पर जिम्मेदार ठहराया गया।

रैयतवारी प्रथा के लिए कहा गया था कि यह हिंदुस्तानी परंपरा के ज्यादा माफ़िक है। असल में, रैयतवारी प्रथा में भी किसान के पैदावार का ख्याल नही रखा जाता था और किसानों को जमीन के

[12] वही, पृ० 31
[13] वही
[14] रजनी पाम दत्त. 2000, ‘*आज का भारत*’, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ० 225
[15] ए० आर० देसाई. 2012, *भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि*’, दिल्ली, मैकमिलन पब्लिकेसन, पृ० 32
[16] वही

Knowledgeable Research (An International Peer-Reviewed Multidisciplinary Journal) **ISSN 2583-6633**
Available Online: http://knowledgeableresearch.com Vol.04, No.08, August,2025

हिसाब से मालगुजारी तय कि जाती थी। इस तरह जमींदारी प्रथा कि तरह रैयतवारी बंदोबस्त भी हिन्दुस्तानी परम्परा से उल्टा था।[17]

महालवारी व्यवस्था

उत्तरी भारत तथा पंजाब के कुछ क्षेत्रों में एक अन्य व्यवस्था, महालवारी व्यवस्था लागू कि गई। इसमे लगान देने के लिए संयुक्त ज़िम्मेदारी कि व्यवस्था की गई। कृषि भूमि को गाँव की सामुदायिक संपत्ति के रूप में मान्यता दी गई। इसमे काश्तकार व्यक्तिगत स्तर पर नहीं बल्कि पूरे गाँव की ओरं से सरकार के साथ समझौता करता था।[18] इस व्यवस्था में जमीन के नए बंदोबस्त अस्थाई भूमि कर के आधार पर किए गए। जमीन के इन अस्थाई बंदोबस्तों में जो जमींदार बनाए गए उनकी जमीन पर मिल्कियत तो स्थायी थी, लेकिन जो भूमि कर वे सरकार को देते थे उसे बाद में पुनरीक्षित किया जा सकता।[19]

इस प्रकार ब्रिटीशों ने अपनी सुविधा और लाभों के अनुकूल भारत में भूमि सम्बन्धों को परिभाषित किया। हम देखते हैं की भारत के अलग-अलग क्षेत्रों मे अलग-अलग प्रकार की भू-व्यवस्था अपनाई गई। रजनी पाम दत के शब्दों में, "आजकल हिंदुस्तान में जमीन पर तीन तरह के अधिकार हैं। इन इन तीनों का उदगम अंग्रेज़ सरकार है और असल में हर सूरत में जमीन पर सरकार का ही अधिकार होता है।

पहली तरह का अधिकार स्थायी जमींदारी बंदोबस्त का है। यह प्रथा बंगाल, बिहार और उत्तरी मद्रास के कुछ इलाकों में है। कुल ब्रिटिश भारत की जमीन का उन्नीस फीसदी हिस्सा इसके अंतर्गत है।

दूसरा अधिकार अस्थाई जमींदारी बंदोबस्त का है। यह (महालवारी) प्रथा युक्तप्रांत के अधिकांश भागों में, मध्य प्रांत और बंगाल तथा बंबई के कुछ हिस्सों में और पंजाब मे है। कहीं-कहीं पर मालगुजारी अलग-अलग किसानों से वसूल की जाती है और कहीं-कहीं एक गुट से, जैसे की पंजाब के कुछ हिस्सों मे पंचायती कहलाने वाले इंतजाम में होता है। इस प्रथा में 30 फीसदी जमीन आ जाती है।

तीसरी रैयतवारी प्रथा है जो बंबई, अधिकांश मद्रास, बरार, सिंध, आसाम और दूसरी जगहों में लागू होता है। 51 फीसदी जमीन इस प्रथा के अन्तर्गत है।"[20]

परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जमींदारी प्रथा ब्रिटिश भारत के केवल 49 फीसदी हिस्से मे ही चालू है जहां जमींदारी बंदोबस्त किया गया है। अमली तौर पर रैयतवारी इलाकों में भी बड़ी तेजी से यह प्रथा चल पड़ी है। जमीन के मालिक अपने खेत उठा देते हैं ; महाजनों के कर्ज से किसानों के खेत छिन गए हैं, या दूसरे ने उन पर कब्जा कर लिया है। किसी जमाने में यह मंशा रही होगी कि सीधे किसानों से मालगुजारी वसूल की जाएगी, लेकिन अब हालात बदल गई है अंदाज लगाया जाता है कि, "मद्रास और बंबई में 30 फीसदी से अधिक जमीन ऐसी है, जिसे उसके मालिक नहीं जोतते।"[21]

नई भूराजस्व व्यवस्था

नई भूमि व्यवस्था में गाँव कर निर्धारण और कर भुगतान की इकाई नहीं रह गए और जमीन के निजी मिल्कियत के साथ ही व्यक्तिगत कर निर्धारण और कर अदायगी कि प्रथा शुरू हुई। कर निर्धारण और कर अदायगी का नया तरीका भी शुरू हुआ। फसल कि जगह रूपये के नियत भुगतान की प्रथा आई, जिसके अनुसार जमीन के आधार पर कर निर्धारण होता था। फसल चाहे अच्छी हो या बुरी, अधिक जमीन पर खेती हुई हो या कम पर, साल में रूपये कि एक निश्चित राशि देय होती थी। भूमिकर के निर्धारण और भुगतान के नए रूप और ढंग का व्यापक प्रभाव पड़ा।

यह स्वाभाविक और अवश्यंभावी था (और ऐसा हुआ भी) लगान कि नई व्यवस्था के साथ जमीन के रेहन और खरीद-

---

[17] रजनी पाम दत्त. 2000, '*आज का भारत'*, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ० 226

[18] अरविंद सिन्हा एवं सुषमाधीश. 2008,'भारत में अंग्रेज़ो की प्रशासनिक नीति, आंतरिक प्रशासन तथा अर्थव्यवस्था पर उसका प्रभाव, 1757-1858', आर० एल० शुक्ल,(संपा०) में, *आधुनिक भारत का इतिहास*, नई दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ० 114

[19] ए० आर० देसाई. 2012, *'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि'*, दिल्ली, मैकमिलन पब्लिकेसन, पृ० 32

[20] रजनी पाम दत्त. 2000, *'आज का भारत'*, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ० 228

[21] राधकमल मुकर्जी , रजनी पाम दत्त.2000, '*आज का भारत*' में उद्धृत, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ०228 में उद्धरित

Knowledgeable Research (An International Peer-Reviewed Multidisciplinary Journal) **ISSN 2583-6633**
Available Online: http://knowledgeableresearch.com Vol.04, No.08, August,2025

बिक्री कि भी प्रथा शुरू हुई। जब फसल या अपनी औकात के बल पर किसान राज्य को भूमिकर नहीं चुका पता, तब उसे अपनी जमीन रेहन करनी पड़ती थी या बय। इस तरह नए शासन तंत्र में जमीन का स्वत्व और स्वामित्व अनिश्चित हो गया। नई भूमि व्यवस्था ने गाँव के सामुदायिक जन-जीवन और उसकी स्वपर्याप्ता को बेतरह झकझोर दिया।[22] यह कृषक समुदाय कि ऋणग्रस्तता और गरीबी का मुख्य कारण सिद्ध हुआ।

कृषि का वाणिज्यिकरण

कृषि के क्षेत्र में एक नई विशेषता थी इसका वाणिज्यिकरण। नए भूमि सम्बन्धों और नियत धन के रूप में कर के भुगतान कि प्रथा के फलस्वरूप ग्रामीण उपभोग के लिए उत्पादन के बदले बाजार में विक्रय के लिए उत्पादन शुरू हुआ इस तरह उत्पादन के रूप और चरित्र में मूलभूत परिवर्तन हुए।

आवागमन के साधनों में विकास और पूंजी के व्यापक प्रभाव के कारण किसान के लिए बाजार कि सुविधा उपलब्ध हुई और वह अब मुख्यतः बाजार की दृष्टि से सामान पैदा करने लगा। भूमिकर की राशि प्रायः बहुत अधिक हुआ करती थी और पहले तो लगान की अदायगी के लिए और कालक्रम से महाजन का ऋण चुकाने के लिए किसान को अधिक से अधिक पैसा बनाने की जरूरत हुई। वह विभिन्न कारणों से सूदखोर महाजनों के चंगुल में अधिकाधिक जकड़ता गया और इस तरह उसे बाजार के लिए उत्पादन करने के लिए बाध्य होना पड़ा। किसान अब खास किस्म की फसल उगाने पर ज़ोर देने लगा। अपनी विशिष्ट उपयुक्तता के कारण कई गांवों की जमीन मे अब बस केवल एक ही किस्म की फसल उगाई जाने लगी जैसे, रूई, जूट, गेंहू, ईख, तेलहन इत्यादि।[23] इंग्लैंड मे आधुनिक उद्योगों के उदय के साथ ही इनके कच्चे माल की जरूरत के पूर्ति लिए भारतीय कृषि की वाणिज्यिकरण और विशिष्टीकरण और अधिक तेज हुआ। कुछ क्षेत्रों को विशिष्ट फसलों के लिए निर्धारित कर दिया गया जो मुख्यतः निर्यात के लिए थी ; उदाहरण के लिए, बर्मा को धन के लिए, पंजाब को गेंहू के लिए, पूर्वी बंगाल जूट के लिए, महाराष्ट्र एवं गुजरात रूई के लिए तथा बिहार एवं मध्य भारत पोस्त के लिए।[24]

अपनी निजी और गाँव की समूहिक जरूरतों को पूरा करने के बदले अब भारतीय किसान उपनिवेशी शासन के वाणिज्यिक लाभों के लिए फसल उगाने लगा और कृषि उत्पादन की दिशा में परिवर्तन के फलस्वरूप न केवल फसलों का वाणिज्यिकरण और विशिष्टीकरण हुआ, वरन भारतीय गांवों की कृषि और उद्योगों की प्राचीन एकता भी भंग हो गई।

भूमि का बँटवारा तथा विखंडीकरण

भूमि का उपविभाजन और विखंडन भारतीय कृषि का दुर्दांत और विनाशकारी तथ्य है। हर किसान की जमीन कम होती गई और जोत वाली जमीन अधिकाधिक अनार्थिक होती गई।

अब जमीन के निजी स्वामित्व की स्थापना और इसके हस्तांतरण के आधार के साथ ही जमीन का अधिकाधिक उपविभाजन हुआ। यूरोप में जब कृषि व्यवस्था में पूँजीवादी व्यवस्था सम्बन्धों का जन्म हुआ, तो उसके साथ खेती की इकाई के रूप में सुसंगठित फार्मों का जन्म हुआ। भारत मे अंग्रेजों ने जमीन का ऐसा कुछ पुनर्गठन नहीं किया।[25]

बटाईदारी प्रथा के उदय के कारण भी जमीन का विभाजन हुआ। लेकिन जमीन के उपविभाजन और विखंडीकरण की प्रक्रिया में सबसे निर्णायक तथ्य था खेती पर निर्भर लोगों की वृद्धि।[26] उसका नक्शा इस तरह का था[27] :-

खेती पर निर्भर आबादी (प्रतिशत में)

वर्ष	**आबादी**
1891	61.1%
1909	66.5%
1911	72.2%

[22] ए॰ आर॰ देसाई. 2012, *'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि'* , दिल्ली, मैकमिलन पब्लिकेसन, पृ॰ 34

[23] वही पृ॰ 35

[24] वही

[25] रजनी पाम दत्त. 2000, *' आज का भारत'* , ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ॰ 100

[26] ए॰ आर॰ देसाई. 2012, *भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि'* , दिल्ली, मैकमिलन पब्लिकेसन, पृ॰ 42

[27] रजनी पाम दत्त. 2000, *'आज का भारत'* , ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ॰ 199

1921	73.0%
1931	75%(65.6%)[28]

स्रोत :- रजनी पाम दत, 2000, *आज का भारत*, ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली, पृ॰199

एक तरफ खेती पर लोगों की निर्भरता बढ़ती जा रही थी वहीं दूसरी तरफ उद्योगों पर लोगों की निर्भरता उत्तरोतर घटती जा रही थी। इससे मालूम होता है की किस तरह अनौद्यिकरण होता जा रहा था पुरानी दस्तकारी का विनाश तो हुआ ही, लेकिन इसके साथ नए उद्योग-धंधों का विकास नहीं हुआ था। इससे खेती पर लोगों की निर्भरता जरूरत से ज्यादा बढ़ गई।[29] कुल मिलाकर उस समय भारत कृषि में प्रच्छन बेरोजगारी की समस्या व्याप्त थी।

जोतों के अतिशय विखंडन के कारण किसानों के लिए सुचारू रुपेन खेती करना बड़ा कठिन था। जोतों के अधिकाधिक विखंडीकरण के कारण खेतिहर मजदूरों की तादाद बढ़ती गई और कुदाल एवं फावड़े का इस्तेमाल बढ़ने लगा।[30]

बहुत हद तक छोटी जोतों के कारण किसान गरीब रहे, और उनकी गरीबी का यह नतीजा हुआ कि वे उत्पादन के तरीकों और तकनीक को विकसित नहीं कर सके। इस तरह अनेकानेक कारणों से जोती जाने वाली जमीन का प्रति एकड़ उत्पादन लगातार घटता गया।

किसानों की बढ़ती हुई ऋणग्रस्तता एवं गरीबी

ब्रिटिश शासनकाल में किसानों कि ऋणग्रस्तता प्रत्येक दशक में लगातार बढ़ती हई गई। यह 1880 के बाद ज्यामितिक दर से बढ़ती ही रही। 1929 के विश्वव्यापी आर्थिक संकट का भारत के कृषक समुदाय पर काफी बुरा असर पड़ा। खेती के उत्पादनों की कीमत इतनी तेजी से घाटी की 1929 से 1936 ई॰ के बीच समस्त ऋण की राशि 1800 करोड़ हो गई। इस असाधारण वृद्धि का मूल कारण यह था कि 1929 के बाद किसानों कि आय आधे से भी कम हो गई कर का भार ज्यो का त्यो रहा।[31]

किसानों कि बढ़ती हुई ऋणग्रस्तता के कारण रैयतवारी इलाकों में बड़े पैमानों पर जमीन काश्तकारों के हाथों से निकलकर सूदखोर महाजनों के हाथ में जाने लगी। जमींदारी इलाकों में बड़े पैमाने पर किसानों की बेदखली हुई।[32] साइमन कमीशन की रिपोर्ट में कहा गया की "*अधिकांश किसान महाजन के कर्जदार है* "(खंड 1, पृ॰16)।[33] ग्रामीण ऋणग्रस्तता को वैधानिक उपायों द्वारा समाप्त करने की सरकारी कोशिश नाकामयाब रही।[34]

नई भूमि व्यवस्था में भूमि पण्य-वस्तु हो गई थी। इससे किसानों को यह अधिकार तो मिला की वे अपनी जमीन को बय या रेहन कर सके, लेकिन इसके साथ महाजन को भी यह अधिकार मिला की वह किसान की जमीन हड़प ले। नए आर्थिक पर्यावरण में जिस दरिद्रता का जन्म हुआ उसके कारण अधिकाधिक जमीन महाजनों की होने लगी। फलस्वरूप भारतीय कृषक समाज का व्यापक क्षति हुआ और दूरस्थ जमींदारों के वर्ग का आविर्भाव हुआ।[35]

कृषि मजदूर-वर्ग तथा कृषि दासता में वृद्धि

ग्रामीण ऋणग्रस्तता तथा उपस्थित जमींदारी ने एक अन्य विशेषता को जन्म दिया और वह थी कृषि-मज़दूर वर्ग तथा कृषि दास वर्ग का उदय। खेतिहर मालिकों और काश्तकारों की संख्या घटती गई और गैरकाश्तकार जमींदारों की संख्या बढ़ती गई। 1880 ई॰ में अकाल कमीशन ने ग्रामीण क्षेत्रों में अत्यधिक बेरोजगारी के बारे में चेतावनी दी।[36] अर्थात बहुत से ऐसे भूमिहीन मजदूरों की उपस्थिती जिन्हे साल मे केवल कुछ महीने ही काम मिल पाता था तथा जो भूखमरी की जिंदगी व्यतीत कर रहे थे। आर॰ के॰ मुखर्जी के अनुसार "*इन कृषि मजदूरों की वृद्धि के कई कारण बताए गए जैसे, ग्रामीण अर्थव्यवस्था में सामुदायिक अधिकारों का समाप्त होना, भूमि का विखंडन, बिचौलियों तथा पट्टेदारों में वृद्धि, भूमि*

[28] आर॰ पी॰ दत्त 1931 में खेती पर निर्भर आबादी के सरकारी रिकार्ड 65.6% के विपरीत इसे 75% मानते हैं। रजनी पाम दत्त. 2000, '*आज का भारत*' , ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ॰ 199

[29] वही पृ॰ 202

[30] ए॰ आर॰ देसाई. 2012,' *भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि*' , दिल्ली, मैकमिलन पब्लिकेसन, पृ॰ 43

[31] वही पृ॰ 48

[32] वही

[33] रजनी पाम दत्त. 2000, '*आज का भारत*', ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ॰ 237

[34] ए॰ आर॰ देसाई. 2012,' *भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि*' , दिल्ली, मैकमिलन पब्लिकेसन, पृ॰ 48

[35] वही पृ॰ 49

[36] रजनी पाम दत्त. 2000, '*आज का भारत*' , ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ॰ 237

का हस्तांतरण अथवा गिरवी रखा जाना तथा कुटीर उद्योगों का विनाश। " भारत के कुछ हिस्सों में ऋणग्रस्तता के कारण कुछ किसान अंततोगत्वा कृषिदास की स्थिति में पहुँच गए थे।[37] वस्तुतः 19वीं शताब्दी के अंत तक भारतीय अर्थव्यवस्था एक शास्त्रीय उपनिवेशीय अर्थव्यवस्था (Classical Colonial Economy) में रूपांतरित हो गई थी।

इस तरह भारत की औपनिवेशिक स्थिति के कारण, खेती में भूमि-सम्बन्धों के आगमन से भी कृषि का आधुनिकीकरण नहीं हुआ और ना ही कुछ ही दिनों के लिए ही सही किसान समृद्ध-सम्पन्न हो पाये थे। जमीन पर सामाजिक स्वत्व के बदले निजी स्वत्व के आगमन से सामाजिक विनिमय सम्बन्धों का विकास हुआ, लेकिन खेती के तकनीति आधार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।[38] परंतु इसके साथ ही ब्रिटिश उपनिवेशवाद के कुछ प्रगतिशील पहलू भी भारतीय कृषि के संदर्भ में देखने को मिले। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने आत्मनिर्भर गांवों को नष्ट कर दिया परंतु ये गाँव संकुचित, संकीर्ण, अप्रगतिशील तथा निष्क्रिय थी। गांवों के अंदर आर्थिक और सामाजिक स्थिती, एक प्रकार से निम्न कोटी की कही जा सकती है। लोगों का व्यवसाय उनकी जातियों पर आधारित थे और ये व्यवसाय भी जतियों की तरह आनुवंशिकता पर आधारित था। आर्थिक जीवन और विनिमय व्यवस्था गाँव के अंदर ही संकुचित था। ए॰ आर॰ देसाई इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि, "यह सत्य है कि गांवों के अर्थतन्त्र के पूंजीवादी रूपान्तरण की प्रक्रिया में ग्रामीण सहयोग की भावना का अंत हो गया, लेकिन इस रूपान्तरण कि ऐतिहासिक प्रगतिशीलता इस बात में निहित है कि इसने आत्मनिर्भर गांवों के पार्थक्य(अलग-थलग) को समाप्त कर उनकी अर्थव्यवस्था को संयुक्त, एकीकृत भारतीय, अर्थात राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अंग बनाया। भारतीय जन जीवन के आर्थिक समन्वय के लिए ऐसी प्रगति ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक थी। जन साधारण के लिए रेल और बस जैसे आवागमन के साधनों की स्थापना से सामाजिक विनिमय की संभावना तेजी से बढ़ी और गाँव के लोगों का भौतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पार्थक्य समाप्त हुआ।"[39] इसके अलावा अब किसानों की स्थिति और कृषि की अन्य समस्याएँ अखिल भारतीय समस्याएँ थी। इसलिए उनके आधार पर सारे राष्ट्र को संगठित और आंदोलित किया जा सकता था।

ब्रिटिश शासन का भारतीय पारिस्थितिकी पर प्रभाव

ब्रिटिश शासन का एक महत्वपूर्ण प्रभाव भारत के पारिस्थितिकी पर पड़ा। ब्रिटिश उपनिवेशवाद को भारत में पारिस्थिकी के इतिहास में एक महत्वपूर्ण पड़ाव के रूप में देखा जाता जाता है।[40]

किसी निश्चित क्षेत्र में हवा, जल, जीव एवं पेड़-पौधों इत्यादि के सम्बन्धों को पारिस्थितिकी कहा जाता है। वैसे तो ब्रिटिश उपनिवेशवाद से पूर्व भी इन सम्बन्धों मे हस्तक्षेप होता रहा है परंतु पूर्व के ये हस्तक्षेप इस पूरे संबंध को असंतुलित नहीं कर रहे थे। यहाँ के निवासियों द्वारा एक **पारिस्थितिकीय सावधानी(ecological prudence)** बरती जाती थी।[41] जिससे पारिस्थितिकीय संतुलन बना रहता था। माधव गाडगील के अनुसार ; *"पारिस्थितिकीय सावधानी के ऐसे ढेरों साक्ष्य मिलते है जो अभी तक कई मानवीय सभ्यताओं में बरकरार है। पारिस्थितिकीय सावधानी से हमारा मतलब है प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक प्रयोग पर प्रतिबंध लगाना। ऐसी प्रथाएँ आज भी कई समुदायों में है, जैसे कि पेड़ को काटने में धातु के प्रयोग कि मनाही, जानवरों को मारने पर प्रतिबंध इत्यादि।* "[42] ऐसे व्यवहारों को रामचन्द्र गुहा एवं गाडगील **' नीचे से संरक्षण '** (Conservation From Below) का नाम देते हैं।[43] ब्रिटीशों ने भारत में कई क़ानूनों का निर्माण एवं उनका किर्यांवन कर इन परिस्थितिकी क्षेत्रों मे हस्तक्षेप किया जिससे यहाँ के इन पारिस्थितिक क्षेत्रों पर वृहत प्रभाव पड़ा।

---

[37] ए॰ आर॰ देसाई. 2012,' *भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि* ' , दिल्ली, मैकमिलन पब्लिकेसन, पृ॰ 50

[38] वही पृ॰ 57

[39] वही,पृ॰ 39

[40] Ramchandra Guha and Madhav Gadgil. 'State Forestry and Conflict in British India' , *Past & Present, No. 123 (May. 1989), pp.141-177*

[41] Madhaw Gadgil, Towards an Ecological History of India, Economic and Political Weekly, Vol. 20, No. 45/47, Special Number (Nov., 1985), pp.1909-1911+1913+1915+1917-1918

[42] विस्तृत रूप के लिए, देखे, वही

[43] Sanjukta Das Gupta, 2009, Accessing Nature:Agrarian Change, Forest Laws and their Impact on an Adivasi Economy in Colonial India, *Conservation and Society* 7(4): 227-238, http://www.conservationandsociety.org

कई विद्वानों ने उपनिवेशीय सरकार के ऐसे कदमों को पारिस्थितिकीय साम्राज्यवाद का नाम दिया है। इन्होने पारिस्थितिकीय साम्राज्यवाद को परिभाषित करते हुए कहा है कि "अपने वैज्ञानिक एवं आर्थिक तरक्की के लिए किसी उपनिवेशी जमीन के राष्ट्रीय संसाधनों का शोषण, खात्मा या उसके स्थानांतरण के द्वारा सोचा समझा विनाश पारिस्थितिकीय साम्राज्यवाद कहलाता है।"[44]

ब्रिटिश उपनिवेशीय सरकार ने अपने वाणिज्यिक लाभों के लिए कई सारी नीतियों का निर्माण किया। जिसके फलस्वरूप भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिदृश्यों के साथ-साथ यहाँ की पारिस्थितिकी पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इन प्रभावों को हम निम्न शीर्षकों के तहत देख सकते हैं।

प्राकृतिक संसाधनों का वाणिज्यिकरण

उपनिवेशकाल से पूर्व भारत में कृषि, जल, जंगल, जमीन इत्यादि प्रकृतिक संसाधनों पर पूर्णतः अथवा अंशतः समुदायों का अधिकार होता था। वे अपनी जरूरतों कि चीजें इन जगहों से प्राप्त कर लिया करते थे। ब्रिटिश शासकों ने इन सम्बन्धों को बदलकर अपने लाभ के दृष्टिकोण से इन प्राकृतिक संसाधनों का वाणिज्यिकरण प्रारम्भ किया। वंदना शिवा के अनुसार ;

"सदियों से जमीन, पानी और वैन जैसे महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधनों को नियंत्रित करके गांवों में इनका समूहिक उपयोग होता चला आया है, जिससे इन संसाधनों का स्थायी उत्पादन (sustainable use) होता रहा। उपनिवेशिक हुकूमत ने क्रमिक रूप से इन सार्वजनिक संसाधनों को ऐसे उत्पादन में बदल *डाला जिससे आय और लाभ में बढ़त होती।"*[45]

ब्रिटिश पूर्व में जंगलों को अनुपयोगी मानकर अपने विलासिता के उच्च रूप केवल जानवरों के शिकार स्थल के रूप में देखते थे। शिकार के लिए उच्च अधिकारियों तथा राजा-महाराजाओं को आमंत्रित किया जाता था तथा तथा अपनी आजीविका के लिए इन पर निर्भर कुछ लोगों को ऐसा करने से रोका जाता था। रोमिला थापर इसका वर्णन करते हुए कहते हैं ;

"शाही शिकार के लिए वन को इस्तेमाल करने के मामलों में संदिग्धता को आज तक सुलझाया नहीं गया है। शिकार में प्रकृति और संस्कृति का विभाजन दिलचस्प ढंग से सामने आता है। आजीविका के लिए शिकार करने वालों को उपेक्षित और निचली जाति का माना जाता है ,पर राजकुमार और राजा उसी शिकार पर अक्सर जाते हैं जिसे खेल कहा जाता है, पर जो सही में अक्सर प्रकृति और जानवरों का क्रूर विनाश ही कहला सकता है। उनके तरीके पेशेवर शिकारियों कि तुलना में अत्यंत वीभत्स होने के बावजूद उनके दामन पर कोई आँच नहीं आती है।"[46]

ब्रिटिशों ने जंगलों के वाणिज्यिकरण हेतु सर्वप्रथम जंगलों के संरक्षण का सहारा लिया। अपने शासन के प्रारम्भिक दशकों में उपनिवेशी राज्य जंगलों के संरक्षण के प्रति उदासीन रहा, फिर 19वीं शताब्दी में शासकों द्वारा जंगलों को कृषि के विस्तार में बाधक माना जाता था। क्योंकि कृषि उनके लिए राजस्व का एक बड़ा माध्यम था। अतः बड़ी भारी मात्र में जंगलों को कृषि के विस्तार के लिए साफ किया गया।

सर्वप्रथम भारत में उपनिवेशी सरकार के द्वारा 1806 ई० में मालाबार के सांगवान के जंगलों का संरक्षण किया गया, जो कि ब्रिटेन की रॉयल नेवी के लिए जहाजों के निर्माण के लिए लकड़ी आपूर्ति के उद्धेश्य से किया गया था क्योंकि इंग्लैंड और आयरलैंड में ओक (oak) के जंगलों कि कमी हो गई थी।[47] इस उद्धेश्य से इन क्षेत्रों में भरी मात्रा में इन जंगलों को काटा गया था।

रेलवे का विकास

[44] Serpil OPPERMANN, 2007, **Ecological Imperialism in British Colonial Fiction,** *Journal of Faculty of Letters Cilt/Volume 24/No. 1/ Jun 2007*

[45] सुमित गुहा,2010. अठारहवीं शताब्दी के महाराष्ट्र में घास और चारे पर नियंत्रण : एक ऐतिहासिक अदध्ययन में उद्धृत, महेश रंगराजन(संपा) में, '*भारत में प्रयावरण के मुद्दे*' , पेयरसन पब्लिकेसन, नई दिल्ली, पृ० 77

[46] रोमिला थापर. 2010, 'वन और बस्ती' , महेश रंगराजन(संपा) में, *भारत में प्रयावरण के मुद्दे*, पेयरसन पब्लिकेसन, नई दिल्ली, पृ० 32

[47] Ramchandra Guha and Madhav Gadgil. 'State Forestry and Conflict in British India' , *Past & Present, No. 123 (May. 1989), pp.141-177*

19वीं सदी में ब्रिटीशों नए अपने वाणिज्यिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए बड़ी तेजी से रेलवे लाइन का विस्तार किया गया। रेल लाइन को बिछाने के लिए रेल स्लीपर और कोचों को तैयार करने के लिए अत्यधिक मात्रा में जंगलों को काटा गया। इसके साथ-साथ मार्ग में आने वाले वनों को भी साफ कर दिया जाता था। रामचन्द्र गुहा रेलवे के विकास को भारत में पारिस्थितिकी इतिहास में एक महत्वपूर्ण पड़ाव मानते हैं।[48] इस कार्य में किसी भी प्रकार के दिशा-निर्देशों का अभाव था। इससे बड़े पैमाने पर वनों का विनाश हुआ।

पहले तो औद्योगीकरण को बढ़ावा देने के लिए संसाधनों को बाजार और बन्दरगाहों तक पहुंचाने के मकसद से इन्हे लगाया गया, पर रेलवे के आने से कई और चीजें बदल गई। रेल से नई जगहों तक पहुँच पाने की वजह से पलायन के रास्ते खुल गए और नयी बस्तियाँ बनी। बस्तियाँ केवल रेलवे लाइन के पास नहीं थी, बल्कि वनों के अंदर भी, जहां खेती के लिए जमीन खाली की गई थी। रेलवे ने समुदायों की नजदीकी को बढ़ावा दिया, पर साथ ही कई जगहों में पर्यावरण को ही बदल दिया।[49] इसके अलावा रेलवे लाइनों के वनों के बीच से गुजरने के कारण कई जीवों को प्राकृतिक आवास को भी नुकसान पहुँचा, कई ऐसे जीवों के जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक प्रवास करते थे, उनके प्रकृतिक प्रवास को रेलवे लाइनो के वनों के बीच बन जाने से नुकसान पहुँचा।

वनों का वर्गीकरण

ब्रिटिश शासन ने अपने वाणिज्यिक हितों को देखते हुए कई सारी वन नीतियाँ बनाई तथा इन नीतियों के सहारे वनों को वर्गीकृत कर वन संसाधनों को अपने अधीन कर लिया। कुछ महत्वपूर्ण वन संबंधी नीतियाँ निम्न हैं[50] :-

वर्ष	**नीति**
1806	मालाबार-त्रावणकोर के लिए जंगलों का पहला संरक्षण
1823	मालाबार में संरक्षणवाद की समाप्ति
1865	1865 का वन अधिनियम vii (भारत में प्रथम वन अधिनियम)
1878	1878 का वन अधिनियम vii (मद्रास को छोड़कर सभी भागों में आरक्षित और संरक्षित वनों का वर्गिकरण
1882	1882 का मद्रास वन अधिनियम (आरक्षित वन, संरक्षित वन और खुले वनों में वर्गिकरण)
1906	इंपीरियल वन अनुशंधान संस्थान, देहरादून की स्थापना

इस प्रकार उपनिवेशी राज्य ने विभिन्न वन संबंधी नीतियाँ बनाकर वनों को संरक्षित, आरक्षित तथा गैर वर्गीकृत वनों में बाँट दिया। इन्होने जंगलों को इन विधियों से अपने अधीन कर लिया जो पहले स्थानीय समुदायों के अंतर्गत होता था[51] तथा इसका उपयोग इमारती लकड़ी के उत्पादन एवं आपूर्ति के स्त्रोत के रूप में करने लगे। इससे ग्रामीणों के दैनिक जन-जीवन प्रभावित होने लगा। एक तरफ तो संपति अधिकारों को पुनर्भाषित किया गया (अवैध अधिकार या नये अधिकारों के जन्म के रूप में) वहीं दूसरी तरफ इससे वनाक्षादन (deforestation) को भी बढ़ावा मिला। वनाक्षादन से समुदायों की आर्थिक स्थिति के साथ-साथ पारिस्थितिकी भी काफी हद तक प्रभावित हुआ।

[48] विस्तार के लिए देखे, Ramchandra Guha. 'Forestry in British and Post-British India: A Historical Analysis' , *Economic and Political Weekly*, Vol. 18, No. 44 (Oct. 29, 1983), pp. 1882-1896

[49] रोमिला थापर. 2010, ' वन और बस्ती' , महेश रंगराजन(संपा) में, *भारत में प्रयावरण के मुद्दे*, पेयरसन पब्लिकेसन, नई दिल्ली, पृ० 33

[50] Arun Bandopadhyay. 'The Colonial Legacy of Forest Policies in India' , *Social Scientist, Vol. 38, No. 1/2 (Jan. - Feb., 2010), pp. 53-76*

[51] विस्तार के लिए देखे, Ramchandra Guha and Madhav Gadgil. 'State Forestry and Conflict in British India' , Past & Present, No. 123 (May. 1989), pp.141-177

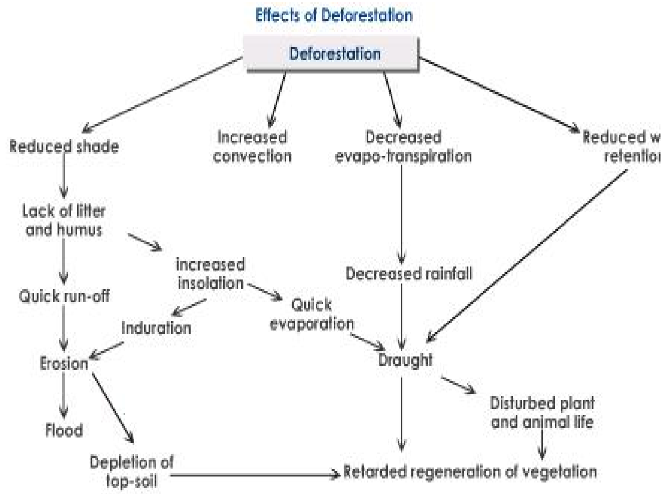

चित्र :- वनाच्छादन का पारिस्थितिकी पर प्रभाव

स्रोत :- www.tutorvista.com

वनों के वर्गीकरण होने से स्थानीय समुदायों के जीवन-यापन पर गहरा प्रभाव पड़ा जिससे इन समुदायों तथा राज्य के बीच टकराव बढ़ गए। उपनिवेशीय सरकार झूम खेती या स्थानांतरण कृषि तथा उन समुदायों के शिकार पर पाबंदी लगा दी, जो इन पर अपनी आजिविका के लिए निर्भर थे। अंग्रेजों का झूम कृषि के प्रति नाकारात्मक नजरिया था क्योंकि उनका मानना था की यह जुताई करके कृषि (plough agriculture) करने वाले तरीके की तुलना में कम लाभकारी तथा वनों के व्यापारीकरण की नीति को हानि पहुंचाने वाला था।[52] कुल मिलाकर इन सभी प्रक्रमों के द्वारा वन संसाधनों पर सबसे ज्यादा निर्भर करने वाले सामाजिक गुट– गरीब किसान और आदिवासियों को और किनारे ढकेल दिया गया।

1864 के पहले, यानि भारतीय वन विभाग के बनाने के पहले वन क्षेत्रों का प्रबंध स्थानीय समुदायों के हाथों में ही था। उपनिवेशकों द्वारा फैले हुए वन्य क्षेत्रों पर कब्जा करना कई क्षेत्रों में महत्वपूर्ण था। सरकार के अधिकार का बढ़ना और ग्रामीण समुदायों के हकों का छिनना एक राजनीतिक पड़ाव था। संसाधनों के प्रयोग के पारंपरिक तरीकों में भरी बदलाव सामाजिक पड़ाव था, जो स्थानीय लोगों के वनप्रवेश पर रोक लगने से हुआ। इमारती लकड़ी को एक प्रमुख पदार्थ की हैसियत देने से वन की पारिस्थितिकी में आया बदलाव, पारिस्थितिक पड़ाव था।[53]

वैज्ञानिक वानिकी (Scientific Forestry)

ब्रिटीशों ने अपने वाणिज्यिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए वैज्ञानिक वानिकी को बढ़ावा दिया । वैज्ञानिक वानिकी के तहत, प्राकृतिक रूप से विद्यमान वनों के जगह किसी एक ही प्रजाति के पेड़ों के वनों को बढ़ावा दिया जाता है। उपनिवेशीय वन विभाग के सामने प्रथम लक्ष्य था की भारत में बड़े स्तर पर मिश्रित जंगलों में विभिन्न प्रजातियों के नियोजन को बदलना और उनमे बाजार मूल्य के आधार पर बदलाव करना था। उदाहरण के लिए पश्चिमी घाट के सदाबहार वनों को साफ कर केवल सांगवान के एकल प्रजाति वाले वन में बदल दिया गया।[54]

वन पारिस्थितिकी में किए गए इन बदलावों से वनों की विविधता में कमी आई । इसके अलावा इन वनों की सघनता में भी कमी आई।[55] ये बदलाव जल एवं मिट्टी के प्रणाली को भी धीरे-धीरे प्रभावित करते गए। सांगवान के पेड़ों को बढ़ावा देने के लिए प्राकृतिक रूप से मिश्रित वनों के एक बड़े भाग को साफ किया गया। इन बदलावों ने जंगल के आस-पास बसे गांवों को सबसे अधिक प्रभावित किया। जब जंगलों में विभिन्न प्रजाति पाई जाती थी तो वे आसानी से अपनी जरूरत की चीजें उनसे प्राप्त कर लेते थे, परंतु एकल प्रजाति प्रणाली के वानिकी में यह कार्य कठिन हो गया। उपनिवेशीय शासन द्वारा जिन प्रजातियों को बढ़ावा दिया गया था, वे थे; पाइन, देवदार, और सांगवान; जो ग्रामीण जनसंख्या के बहुत कम उपयोग की थी , जबकि जिन प्रजातियों को इन्होने हटाया वे ईंधन, चारा एवं छोटे ईमारात के लिए अतिआवश्यक थे।[56]

इसके साथ-साथ कई बार किसी पारिस्थितिकी तंत्र में उसके बाहर के किसी जीव या पेड़-पौधों का आरोपण किया जाता

[52] वही

[53] माधव गाडगील एवं रामचन्द्र गुहा. 2010, 'भारत में परिस्थितिकी संघर्ष और पर्यावरणीय आंदोलन', महेश रंगराजन(संपा) में, *भारत में प्रयावरण के मुद्दे*, पेयरसन पब्लिकेसन, नई दिल्ली, पृ० 228

[54] Ramchandra Guha and Madhav Gadgil. 'State Forestry and Conflict in British India', Past & Present, No. 123 (May. 1989), pp.141-177

[55] Arun agrawal. 2005,' *Environmentality:Technogies of Government and Making of Subjects'*, New Delhi, Oxford University Press, pp. 43

[56] Ramchandra Guha and Madhav Gadgil. 'State Forestry and Conflict in British India' , Past & Present, No. 123 (May. 1989), pp.141-177

है तो इससे उस पूरे पारिस्थितिकी संरचना को नुकसान पहुँचने का खतरा बना रहता है।

उपनिवेशीय वानिकी के विश्लेषण के इस दृष्टिकोण से इसका महत्वपूर्ण नतीजा सरकार और जनता के बीच सामाजिक संघर्ष का तीव्र होना था । प्रायः हर जगह, लंबे समय तक स्थानीय लोगों का विरोध चलता रहा।[57] शिकारी और संग्रहण करने वाले अस्थाई कृषक, किसान, ख़ानाबदोश पशुपालक और दस्तकार, इन सभी का वन में प्रवेश उनकी जीविका के लिए जरूरी था, और विभिन्न तरीकों से उन्होने सरकारी नियंत्रण का विरोध किया।[58]

निष्कर्ष

ब्रिटिश शासन ने कई परिवर्तन, कई चरण देखें। वह आर्थिक और राजनीतिक दवाब सबसे असरदार थे जो ब्रिटिश जाते-जाते पीछे छोड़ गए। पश्चिमी घाट के वनों की इमारती लकड़ी शाही नौसेना के जहाज बनाने के कम आई। असम और केरल की पहाड़ियों की सफाई की गई और चाय और कॉफी के बागान लगे। निर्यात करने के मकसद से जूट और चावल की फसल उगाई गई। प्राकृतिक संसाधनों का प्रबंधन नई संस्थाओं के हाथ में दिया गया - जैसे कि वन और सिंचाई विभाग। शासकों को आशा थी की वे इतनी धनराशि जुटा लेंगे की अपने विश्व साम्राज्य स्थापित करने के सपने को पूरा कर सके और उसकी सुरक्षा और विस्तार के लिए सिपाहियों की भर्ती कर सकें। सिर्फ लोगों की जिंदगी ही नहीं बदली , सारा भूदृश्य ही बदल गया।[59]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिवेशीय सरकार कि नीतियाँ वाणिज्यिक लाभों को अधिकतम करने के उद्धेश्य से बनाए गए थे चाहे वे कृषि से संबन्धित हो या फिर पारिस्थितिकी से। ब्रिटीशों को जब तक ऐसा लगा कि वन उसके कृषि द्वारा उत्पन्न राजस्व के मार्ग में बाधा है वे उन्हे साफ कराते रहे। जैसे ही उन्हे लगा कि वन भी राजस्व का महत्वपूर्ण स्त्रोत है तो उन्होनों अपने हिसाब से वभिन्न नीतियाँ बनाकर इसका वर्गिकरण कर इसे अपने अधीन करने लगे। कृषि एवं वन से वाणिज्यिक लाभों को अधिकतम करने के उद्धेश्य से उपनिवेशकों ने रेलों और अन्य परिवहनों का वृहत प्रसार किया जिससे पारिस्थितिकी को गहरा नुकसान पहुँचा। परिवहन कि सुविधा उत्पन्न होने से सुदूर आदिवासी क्षेत्रों में गैर आदिवासियों को कृषि कार्य करने हेतु बसाया गया।[60] जिससे वहाँ के सामाजिक संरचना में बदलाव आया। इसके साथ-साथ उन क्षेत्रों में फसलों के प्रकारों में भी बदलाव आया, क्योंकि अब बीजों तथा फसलों को वाणिज्यिक लाभों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न क्षेत्रों में पहुंचाया जाने लगा। इस प्रकार भूमि के प्रकृति तथा उसके व्यवस्थापन में भी ब्रिटीशों के द्वारा बदलाव लाये गए। कुल मिलाकर इस पूरी प्रक्रिया के द्वारा फसल के व्यापार को बढ़ावा दिया गया।

संदर्भ एवं ग्रंथसूची :-

- ए० आर० देसाई, 2012, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, दिल्ली, मैकमिलन पब्लिकेसन
- रजनी पाम दत्त, 2000, आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली
- विपिन चन्द्र, 2008, भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उदभव और विकास, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली
- आर० एल० शुक्ल(संपा०), २००८, आधुनिक भारत का इतिहास, नई दिल्ली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय
- महेश रंगराजन(संपा) ,२०१०, भारत में प्रयावरण के मुद्दे, पेयरसन पब्लिकेसन, नई दिल्ली
- Henry Staveley Lawrence, INDIAN AGRICULTURE, *Journal of the Royal Society of Arts*, Vol. 56, No. 2880 (JANUARY 31, 1908), pp. 246-266

[57] वही

[58] माधव गाडगील एवं रामचन्द्र गुहा. 2010, 'भारत में परिस्थितिकी संघर्ष और पर्यावरणीय आंदोलन' , महेश रंगराजन(संपा) में, *भारत में प्रयावरण के मुद्दे*, पेयरसन पब्लिकेसन, नई दिल्ली, पृ० 228

[59] महेश रंगराजन(संपा). '*भारत में प्रयावरण के मुद्दे*' , पेयरसन पब्लिकेसन, नई दिल्ली, पृ० 87

[60] Amita Baviskar. 1995, '*In The Belly Of The River*', New Delhi, Oxford University Press,pp.73

Knowledgeable Research (An International Peer-Reviewed Multidisciplinary Journal) **ISSN 2583-6633**
Available Online: http://knowledgeableresearch.com Vol.04, No.08, August,2025

- Kumar Bagchi, 2010, colonialism and indian economy, delhi, oxford university press
- Ramchandra Guha and Madhav Gadgil, State Forestry and Conflict in British India, *Past & Present*, No. 123 (May. 1989), pp.141-177
- Madhaw Gadgil, Towards an Ecological History of India, *Economic and Political Weekly*, Vol. 20, No. 45/47, Special Number (Nov., 1985), pp.1909-1911+1913+1915+1917-1918
- Sanjukta Das Gupta, 2009, Accessing Nature:Agrarian Change, Forest Laws and their Impact on an Adivasi Economy in Colonial India, *Conservation and Society* 7(4): 227-238, http://www.conservationandsociety.org
- Serpil OPPERMANN, 2007, Ecological Imperialism in British Colonial Fiction, Journal of Faculty of Letters Cilt/Volume 24/No. 1/ Jun 2007
- Arun Bandopadhyay, The Colonial Legacy of Forest Policies in India, Social Scientist, Vol. 38, No. 1/2 (Jan. - Feb., 2010), pp. 53-76
- Richard P. Tucker, The Forests of the Western Himalayas: The Legacy of British Colonial Administration, Journal of Forest History, Vol. 26, No. 3 (Jul., 1982), pp. 112-123
- Amita Baviskar, 1995, In The Belly Of The River, New Delhi, Oxford University Press,pp.73
- Arun Bandopadhyay, The Colonial Legacy of Forest Policies in India, Social Scientist, Vol. 38, No. 1/2 (Jan. - Feb., 2010), pp. 53-76Published
- Ramachandra Guha, Forestry in British and Post-British India: A Historical Analysis, Economic and Political Weekly, Vol. 18, No. 44 (Oct. 29, 1983), pp. 1882-1896
- Guha, R. and M. Gadgil. 1992. This fi ssured land: An ecological history of India, Delhi: Oxford University Press
- Dhirendra Datt Dangwal, Commercialisation of Forests, Timber Extraction and Deforestation in Uttaranchal, 1815-1947, http://www.conservationandsociety.org
- Richard Haeuber ,Indian Forestry Policy in Two Eras: Continuity or Change?, Environmental History Review, Vol. 17, No. 1 (Spring, 1993), pp. 49-76

*Corresponding Author: Dr. Prakash Kumar Patel
E-mail: prakashkrpatel.polsc@dsc.du.ac.in
Received: 03 July,2025; Accepted: 22 August,2025. Available online: 28 August, 2025
Published by SAFE. (Society for Academic Facilitation and Extension)
This work is licensed under a Creative Commons Attribution-Noncommercial 4.0 International License